प्रतिक्रमण आवश्यक : स्वरूप और चिन्तन

उपाध्याय श्री रमेशमुनि जी शास्त्री

> प्रतिक्रमण के स्वरूप, उसके आठ पर्यायवाची शब्द, आस्रवद्वार आदि पंचविध प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त तप के भेदरूप में प्रतिक्रमण की महत्ता आदि विषयों पर प्रस्तुत आलेख में विशद विचार किया गया है। *-सम्पादक*

इस असार संसार रूपी महासागर से सर्वथारूपेण पार पाना, न केवल दुर्गम है, अपितु एक अति दुष्कर कार्य है। तथापि इसी दुर्गम, दुष्कर और दुष्प्राप्य को अध्यात्म-साधना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार सहस्रकिरण दिनकर और अग्नि भी अपने ताप से मलों की विशुद्धि करते हैं, उसी प्रकार साधना के प्रखर तेज से मानव की अन्तश्चेतना पर अनादि काल से जमा हुआ मल शनैः-शनैः पिघल कर बह जाता है। इसे आत्मा के साथ प्रगाढ़ रूप से चिपके हुए कर्मों के संबंध का आत्यन्तिक रूपेण विच्छेद हो जाना स्वीकार किया जाता है।

'आवश्यक' जैन-साधना का प्राण तत्त्व है। वह जीवन-विशुद्धि एवं दोष-परिष्कार का ज्वलन्त-जीवन्त महाभाष्य है और साधक को अपनी आत्मा को परखने एवं निरखने का एक परम विशिष्ट उपाय है। आवश्यक के संदर्भ में स्पष्टतः उल्लेख है कि श्रमण और श्रावक दिन-रात के भीतर जिस विधि को अवश्यकरणीय समझ कर किया करते हैं, उसका नाम 'आवश्यक'[1] है। जो अवश्य किया जाय वह आवश्यक[2] है। जो आत्मा को दुर्गुणों से हटा कर सद्गुणों की ओर प्रवृत्त करता है, वह आवश्यक है। कर्मों से आवृत्त आत्मा को जो गुणों से वासित या पूरित करता है, गुणों से संयुक्त कर देता है, उसका नाम 'आवश्यक' है। जो गुणों की आधार भूमि है, उसे 'आपाश्रय' कहते हैं। आवश्यक आध्यात्मिक-समभाव, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता आदि विविध सद्गुणों का प्रधान आधार है, इसलिये वह 'आपाश्रय' भी है।

साधक का लक्ष्य बाह्य पदार्थ नहीं होता है। आत्मशोधन ही उसका मूलभूत लक्ष्य होता है। जिस साधना से आत्मा शाश्वत एवं अक्षय सुख का अनुभव करती है, कर्म-मल को विनष्ट कर अजर-अमर पद प्राप्त करती है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की अध्यात्म-ज्योति प्रज्वलित होती है, वह आवश्यक है। आवश्यक वास्तव में अध्यात्म-साधना रूपी सुरम्य प्रासाद की सुदृढ़ भूमिका है।

यह सत्य है कि 'आवश्यक' दुर्विचारों एवं कुसंस्कारों के परिमार्जन की एक अध्यात्म-प्रधान साधना है। यही वास्तविक अध्यात्मयोग है। आवश्यक के छह भेद हैं। उनके नाम इस प्रकार से प्रतिपादित हैं- १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक- समभाव की साधना। २. चतुर्विंशतिस्तव- तीर्थंकर देव की स्तुति। ३. वन्दन- सद्गुरुओं को नमस्कार। ४. प्रतिक्रमण- दोषों की आलोचना। ५. कायोत्सर्ग- शरीर के प्रति ममत्व का त्याग। ६. प्रत्याख्यान- आहार आदि का परित्याग।

आत्मा की जो वृत्ति अशुभ हो चुकी है, उस वृत्ति को शुभस्थिति और शुद्ध दशा में लाना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द[3] हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है-

१.प्रतिक्रमण- इसका शाब्दिक अर्थ है- पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण करके अपनी स्वभाव दशा में से निकल कर विभाव दशा में चले गये थे तो पुनः स्वभाव रूप सीमाओं में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पापकर्म मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु कृत पापों की आलोचना करना, निन्दा एवं गर्हा करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

२. प्रतिचरणा- पाप से निवृत्त न होना असंयम है। असंयम क्षेत्र से अलग-थलग रहकर अत्यन्त ही जागरूक होकर विशुद्धता के साथ संयम का पालन करना प्रतिचरणा है। संयम मुक्ति-प्राप्ति का अनन्य कारण है। दशविध श्रमण धर्म में 'संयम' भी एक धर्म[4] हैं। वह उत्कृष्ट मंगल स्वरूप[5] धर्म है। केवल बाह्य प्रवृत्तियों का परित्याग करना ही संयम नहीं है, अपितु आन्तरिक प्रवृत्तियों की पवित्रता का नाम 'संयम' है। संयम-साधना में दृढ़ता के साथ अग्रसर होना प्रतिचरणा है।

४. परिहरणा- साधक को साधना के प्रशस्त पथ पर बढ़ते हुए अनेक बाधाओं को सहन करना होता है। असंयम का आकर्षण उसे साधना से विचलित करना चाहता है। बाईस प्रकार के परीषह[6] आते हैं। यदि साधक परिहरणा न रखे तो वह पथ-भ्रष्ट हो सकता है। इसलिये वह प्रतिपल-प्रतिक्षण अशुभ योग, अशुभ ध्यान और दुराचरणों का परित्याग करता है, यही परिहरणा है।

४. वारणा- इसका शाब्दिक अर्थ है- निषेध। साधक विषय-भोग के दलदल में न फँसे, इसलिये साधक को प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहना नितान्त आवश्यक है। साधक राग और द्वेष के दावानल से बचकर और संयम-साधना में दृढ़ता के साथ बढ़ता हुआ ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिये विषय-कषाय से सर्वथा निवृत्त होने के लिये प्रतिक्रमण के अर्थ में 'वारणा' शब्द का प्रयोग हुआ है।

५. निवृत्ति- जैन साधना-पद्धति में 'निवृत्ति' का महत्त्व रहा है। साधक सतत जागरूक रहता है, तथापि प्रमादवश अशुभ कार्यों में उसकी प्रवृत्ति हो जाय तो उसे अतिशीघ्र ही पुनः शुभ में आना चाहिये। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना चाहिये। अशुभ से निवृत्त होने के लिये ही प्रतिक्रमण का पर्यायवाची शब्द 'निवृत्ति' प्रयुक्त है।

६. निन्दा- साधक को प्रतिक्रमण के समय अन्तर्निरीक्षण करना होता है। उसके जीवन में जो भी पापयुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्ति हुई है, शुद्ध मन से उसे उन पापों की निन्दा करनी चाहिये। यथार्थ और अयथार्थ दोषों के प्रकट करने[९] की जो इच्छा होती है उसे निन्दा कहा जाता है। स्व-निन्दा जीवन को मांजने के लिये है। पापकर्मों की निन्दा करने के लिये प्रतिक्रमण के अर्थ में- 'निन्दा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

७. गर्हा- निन्दा अपने आप की जाती है। जबकि गर्हा गुरुजनों के समक्ष की जाती है। गुरुओं के समक्ष निःशल्य होकर अपने पापों को प्रकट कर देना अत्यधिक कठिन कार्य है। जिस साधक का आत्मबल प्रबल नहीं होता है वह कदापि गर्हा नहीं कर सकता। दूसरे के समक्ष जो आत्म-निन्दा की जाती है वह गर्हा है। गर्हा में पापों के प्रति तीव्र रूप से पश्चात्ताप होता है। गर्हा पाप रूपी विष को उतारने वाला वह गारुड़ी मंत्र है जिसके प्रयोग से साधक पाप के विष से मुक्त हो जाता है। इसलिये प्रतिक्रमण का पर्यायवाची शब्द 'गर्हा' है।

८. शुद्धि - शुद्धि का अर्थ है-निर्मलता। जैसे सोने पर लगे हुए मैल को अग्नि में तपाकर विशुद्ध किया जाता है, वैसे ही हृदय के मैल को प्रतिक्रमण कर के दूर किया जाता है। इसलिये उसे 'शुद्धि' कहते हैं।

प्रतिक्रमण के ये पर्यायवाची शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं। यद्यपि इन सबका भाव एक है, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं है, पर विस्तार की दृष्टि से समझने के लिये पर्यायवाची शब्द नितान्त उपयोगी हैं।

यह पूर्णतः स्पष्ट है कि शुभ योगों से अशुभ योगों में गये हुए अपने आप को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना 'प्रतिक्रमण' है। संसार अभिवृद्धि का कारण राग-द्वेष प्रभृति औदयिक भाव हैं और मोक्ष-प्राप्ति का मूलभूत कारण क्षायिक भाव है। साधक क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में जाता है, जो निजभाव नहीं है। तदुपरान्त वह पुनः क्षायोपशमिक भाव में आता है। इस प्रतिकूल गमन को प्रतिक्रमण कहा जाता है। इसके पाँच भेद हैं- पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तंजहा- आसवदारपडिक्कमणे, मिच्छत्तपडिक्कमणे, कसायपडिक्कमणे, जोगपडिक्कमणे, भावपडिक्कमणे।[९]

१. आस्रवद्वार प्रतिक्रमण २. मिथ्यात्व प्रतिक्रमण

३. कषाय प्रतिक्रमण ४. योग प्रतिक्रमण ५. भाव प्रतिक्रमण

संक्षेप में इन पंचविध प्रतिक्रमण का स्वरूप वर्णन इस प्रकार से सप्रमाण निरूपित है :-

१. आस्रवद्वार प्रतिक्रमण- जीव परम-शुद्ध स्वरूपी है, परन्तु अज्ञान के कारण कर्मों का परिसंचय कर रहा है। अतः वह कर्मों का कर्ता है। कर्मों के आगमन का जो मार्ग है, वह आस्रव[१०] है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो काय, वचन और मन के क्रिया रूप योग आस्रव[११] है। जैसे घट के निर्माण में मिट्टी कारण है, वृक्ष के लिये बीज निमित्त है, वैसे आत्मा के साथ कर्मों का संयोग होने में कारण 'आस्रव' है। आस्रव के द्वारा ही शुभाशुभ कर्म आत्मा में प्रविष्ट होते हैं। जिस प्रकार तालाब में नाली के द्वारा जल आता है, वैसे ही आस्रव के द्वारा कर्मरूपी पानी आता है। आस्रव कारण है और कर्मबंध कार्य है। आस्रव के द्वार प्राणातिपात,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होना, पुनः इनका सेवन न करना आस्रव द्वार प्रतिक्रमण है।

२. मिथ्यात्व प्रतिक्रमण- जो तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता है और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व-मोह के उदय के कारण जीव को तत्त्व एवं अतत्त्व का भेद विज्ञान नहीं हो पाता है। वह संसार के विकारों में उलझा रहता[१२] है। जैसे मदिरापान के कारण बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है। वैसे ही मिथ्यात्व के उदय से आत्मा का विवेक भी विलुप्त हो जाता है। वह अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय समझता[१३] है। मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती[१४] है। इस मिथ्यात्व के कारण ही पदार्थ के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है। वास्तव में मिथ्यात्व संसार-वृद्धि का मूलभूत कारण है।

यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के भेद-प्रभेद के संबंध में भिन्न-भिन्न मत हैं। एक मत के अनुसार मिथ्यात्व के दो भेद[१५] हैं-१. अभिगृहीत, २. अनाभिगृहीत। द्वितीय मत के अनुसार मिथ्यात्व के तीन भेद[१६] हैं-१. संशयित, २. आभिग्राहिक, ३. अनाभिग्राहिक। तृतीय अभिमत के अनुसार मिथ्यात्व के पाँच भेद[१७] हैं- १. आभिग्राहिक २. अनाभिग्राहिक ३. सांशयिक ४. आभिनिवेशिक और ५. अनाभोगिक। मिथ्यात्व के जितने भी भेद हैं, वे अपेक्षा-दृष्टि से प्रतिपादित हुए हैं। उपयोग, अनुपयोग या सहसा कारणवश आत्मा के मिथ्यात्व परिणाम में प्राप्त होने पर उससे निवृत्त होना मिथ्यात्व प्रतिक्रमण है।

३. कषाय प्रतिक्रमण- 'कषाय' शब्द की निष्पत्ति 'कष' और 'आय' से हुई है। कष का अर्थ है- संसार और आय का अभिप्राय है- लाभ। जिससे संसार अर्थात् भव-भ्रमण की अभिवृद्धि होती है, वह कषाय है। कषाय वास्तव में संसार की अभिवृद्धि करता है।[१८] कषाय का वेग विशेष रूप से प्रबल होता है और वह पुनर्भव के मूल को परिसिंचित करता है।[१९] उसे शुष्क नहीं होने देता है। यदि कषाय का अभाव हो तो जन्म-मृत्यु की परम्परा का विष-वृक्ष स्वयं ही सूख कर नष्ट हो जाता है। कषाय चार प्रकार का है[२०], उनके नाम इस प्रकार हैं-१. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ

संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं[२१]- राग और द्वेष। इन दोनों में भी उन चारों का समन्वय हो जाता है। राग में माया और लोभ इन दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है तथा द्वेष में क्रोध एवं मान का समावेश होता है।[२२]

राग और द्वेष के कारण ही अष्टविध कर्म का बंध होता है। अतएव राग और द्वेष को भाव कर्म कहा गया है।[२३] इन दोनों का मूल 'मोह' है। उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि केवल संक्षेप-विस्तार के विवक्षा-भेद से जो प्रतिपादन हुआ है, वह समझाने के लिये है। सभी का सार एक ही है कि कषाय वास्तव में आत्मा को मलिन कर देता है, कर्म रंग से जीव को रंग देता है। कषाय-परिणाम से आत्मा को निवृत्त करना 'कषाय-प्रतिक्रमण' है।

४. योग प्रतिक्रमण- मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, वह योग है। योग आस्रव है। इससे कर्मो का आगमन होता है। शुभयोग से पुण्य का आस्रव होता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशुभ योग से पाप का आस्रव होता है। मन, वचन और काया के अशुभ व्यापार होने पर उनसे आत्मा को पृथक् करना 'योग प्रतिक्रमण' कहलाता है।

५. भाव प्रतिक्रमण- आस्रव द्वार, मिथ्यात्व, कषाय और योग इनमें तीन करण एवं तीन योग से प्रवृत्ति न करना 'भाव-प्रतिक्रमण' है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग के भेद से भी प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का कहा जाता है, किन्तु वास्तव में ये पाँचों भेद एक ही हैं। अविरति और प्रमाद इन दोनों का समावेश 'आस्रवद्वार' में हो जाता है। ये पाँचों ही भयंकर दोष माने गये हैं। साधक प्रातः और संध्या के समय में अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है। उस समय वह गहराई से चिन्तन करता रहता है कि वह कहीं सम्यग्दर्शन के पावन-पथ से विमुख होकर मिथ्यात्व की कंटीली-झाड़ियों में तो नहीं उलझा है। व्रत के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर उसने अव्रत को तो ग्रहण नहीं किया है? अप्रमत्तता के नन्दनवन में विहरण के स्थान पर प्रमाद की झुलसती मरुभूमि में तो विचरण नहीं किया है? अकषाय के सुगन्धित सरसब्ज-उपवन को छोड़कर वह कषाय के धधकते हुए पथ पर तो नहीं चला है? मन, वचन और काय की प्रवृत्ति जो शुभयोग में लगनी चाहिये, वह अशुभ योग में तो नहीं लगी है? यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में गया हूँ तो मुझे पुनः सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमाद और शुभयोग में आना चाहिये। इसी दृष्टि से इन पाँचों का प्रतिक्रमण किया जाता हैं।[२४] ये पाँचों कर्मबंध के मुख्य हेतु है।[२५] इनका प्रतिक्रमण करने वाला साधक अपने जीवन को निर्मल बना देता है। पाप-कर्म के महारोग को विनष्ट करने के लिये प्रतिक्रमण वास्तव में सबसे बड़ी अमोघ औषधि है। इस औषधि के सेवन से हमारी आत्मा स्वस्थ बनती है।

साधक प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से अनुचिन्तन करता है। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद बनते हैं।[२६] उनका स्वरूप इस प्रकार है -

१. श्रमण और श्रावक के लिये क्रमशः महाव्रत और अणुव्रत का विधान है। उनमें दोष न लगे, इसके लिये निरन्तर जागरूकता नितान्त अपेक्षित है। यद्यपि श्रमण और श्रावक जागृत एवं सावधान रहता है, तथापि कभी असावधानी से यदि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह आदि के कारण स्खलना हो गई हो तो श्रमण एवं श्रावक को उसकी विशुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये।
२. श्रमण और श्रावक के लिये एक आचार-संहिता निर्धारित है। श्रमण के लिये स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिक्रमण आदि अनेक विधान हैं। श्रावक के लिये भी दैनन्दिन-साधना के विधान हैं। यदि उन विधि-विधानों के अनुपालन में स्खलना हो जाए, समय पर स्वाध्याय, ध्यान आदि न किया जाय तो उस संबंध में प्रतिक्रमण करना चाहिये।
३. आत्मा अविनाशी है, अजर और अमर है। ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा शाश्वत है[२७] और वह अमूर्त है। उस अमूर्त आत्मा के विषय में, मन में यह सोचना है कि आत्मा है या नहीं है। यदि इस प्रकार मन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिये साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिये।

४. हिंसा, असत्य आदि दुष्कृत्य जिनका निषेध किया गया है, साधकों को उनका प्रतिपादन कदापि नहीं करना चाहिये। कभी असावधानी से यदि निरूपण किया हो तो उसका प्रतिक्रमण करना चाहिये।

यह स्पष्ट है कि उक्त चार भेद अपेक्षा दृष्टि से प्रतिपादित हुए हैं। उन सभी का अभिप्राय यही है कि जो भी पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनका शुद्ध-हृदय से प्रायश्चित्त करना चाहिये।

प्रतिक्रमण एक ऐसी अध्यात्म प्रधान साधना है। जिसके द्वारा साधक कृत पापों का प्रक्षालन करता है। प्रतिक्रमण केवल अतीत काल में लगे दोषों की शुद्धि ही नहीं करता है, अपितु वह वर्तमान और भविष्यकाल के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीत काल में लगे हुए दोषों की आलोचना तो प्रतिक्रमण में ही की जाती है। वर्तमान-काल में साधक संवर-साधना में लगे रहने से पाप-कर्मों से निवृत्त रहता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिससे भावी दोषों से बच जाता है। निष्कर्ष यह है कि भूतकाल के अशुभयोग से निवृत्ति, वर्तमानकाल में अशुभयोग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्यकालीन अशुभयोग से हटकर शुभयोग में प्रवृत्ति करूँगा- यह संकल्प होता है। इस तरह वास्तव में प्रतिक्रमण एक विशिष्ट साधना है।

'प्रतिक्रमण' साधना का महत्त्व अनेक दृष्टियों से रहा है। श्रमण के विविध कल्प हैं। कल्प का अर्थ है जो कार्य ज्ञान, शील, तप आदि का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह निश्चय दृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प है।[२८] कल्प शब्द का अर्थ 'काल'[२९] भी हैं, किन्तु यहाँ पर इसका अर्थ 'मर्यादा' है, 'नीति' है और 'आचार' भी है। यह भी समझना होगा कि कल्प के संदर्भ में श्रमणों की 'समाचारी' भी विशेष रूप से प्रतिपादित है।

'कल्प' के संबंध में विविध दृष्टियों से विचारणा हुई है। इसके दश भेद भी प्रतिपादित हुए हैं।[३०] उनके नाम ये हैं-

१. आचेलक्य	२. औद्देशिक
३. शय्यातर	४. राजपिण्ड
५. कृतिकर्म	६. व्रत
७. ज्येष्ठ	८. प्रतिक्रमण
९. मासकल्प	१०.पर्युषणा कल्प

इन दशविध कल्पों में प्रतिक्रमण भी एक कल्प है और यह कल्प दोष परिहार का महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। श्रमण अपने अपराध का निराकरण करने के लिये जो अनुष्ठान करता है, उसको 'प्रतिक्रमण' नाम का कल्प कहा गया है।

साधक गुरुदेव की साक्षी से अपनी आत्मा की मलिनता को दूर करता है। अपनी भूलों को ध्यान में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाता है। मन, वाणी और कर्म को पश्चात्ताप की आग में डाल कर निखारता है। एक-एक दाग को सूक्ष्मतम निरीक्षण-शक्ति से देखता है और उन्हें धो डालता है। यह महान् साधना मन, वाणी और कर्म के सन्तुलन को कदापि अव्यवस्थित नहीं होने देता है और निर्मल जीवन का एक नवीन अध्याय भी खोल देता है। प्रतिक्रमण भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त आभ्यन्तर तप है[31] और इस शब्द में दो शब्द मिले हुए हैं। ये हैं- 'प्रायस्' और चित्त। 'प्रायस्' का शाब्दिक अर्थ है- पाप अथवा अपराध और चित्त का अर्थ होता है उसका संशोधन करना। यानी पाप का, अपराध का संशोधन।[32] इस अर्थ के आधार पर प्रायश्चित्त का यही अर्थ होगा- वह प्रक्रिया जिसके द्वारा पाप अर्थात् अपराध की शुद्धि होती है।[33] दूसरे शब्दों में प्रायश्चित्त उसको कहा जायेगा, जिससे पाप का छेदन हो।[34] मुनि पूर्ण विवेक के साथ अपना धर्माचरण करता है। फिर भी इसके व्रत या आचरण में यदि कोई दोष लग जाता है तो वह जिस कार्य के करने से अपने इन दोषों से निर्दोषता को प्राप्त कर लेता है, उस कार्य को 'प्रायश्चित्त तप' कर्म कहा गया है।[35] प्रमादवश धर्म की साधना और आराधना में यदि किसी प्रकार का कोई दोष आ जाये तो उसका परिहार करना 'प्रायश्चित्त' नामक तप कहलाता है।

इस विवेचन से यह फलित होता है कि एक साधक मुनि को अपने मन, वाणी और शरीर की हलचलों से जाने-अनजाने में कुछ न कुछ बहिरंग एवं अन्तरंग दोष लगते ही रहते हैं। उन दोषों की निवृत्ति के लिये और अपने अन्तर्शोधन के लिये किया गया पश्चात्ताप अथवा दण्डस्वरूप स्वीकार किया गया उपवास आदि का ग्रहण 'प्रायश्चित्त' कहा जाएगा।

यह स्पष्ट है कि हमारी मलिन हुई आत्मा जिस अनुष्ठान से निर्मल हो, पवित्र हो, उसे प्रायश्चित्त कहते है। प्रायश्चित्त के दस भेद भी हैं।[36] उनकेनाम ये हैं-

१. आलोचना योग्य	२. प्रतिक्रमण योग्य
३. तदुभय योग्य	४. विवेक योग्य
५. व्युत्सर्ग योग्य	६. तप योग्य
७. छेद योग्य	८. मूल योग्य
९. अनवस्थापना योग्य	१०.पारांचिक योग्य

प्रायश्चित्त के इन दस भेदों में 'प्रतिक्रमण' द्वितीय भेद है। प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का अभिप्राय हम इस प्रकार कह सकते हैं कि अध्यात्म-जगत् में दोष अर्थात् अपराध को 'रोग' कहा जा सकता है और प्रायश्चित्त-विधान को उसकी 'चिकित्सा' माना जा सकता है। चिकित्सा का उद्देश्य रोगी को कष्ट देना नहीं होता है, अपितु उसके रोग का निवारण करना होता है। उसी तरह दोषयुक्त श्रमण को प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करने का उद्देश्य कष्ट या क्लेश प्राप्त कराना नहीं होता है, अपितु दोष-मुक्त होना होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी संदर्भ में यह स्पष्टतः ज्ञातव्य है कि 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहना प्रतिक्रमण रूप प्रायश्चित्त है।[37] यह प्रायश्चित्त अध्यात्म-साधना को पवित्र, निर्मल तथा विशुद्ध बनाता है। जिज्ञासु के मन में प्रश्न उठ सकता है कि 'मिच्छा मि दुक्कडं' क्या कोई मंत्र है, जो 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहा और सब पाप विनष्ट हो गए। इस प्रश्न का समाधान यह है कि केवल कथन मात्र से ही पाप दूर हो जाते हों, यह बात नहीं है। शब्द में स्वयं कोई पवित्र अथवा अपवित्र करने की शक्ति नहीं है। वे जड़ हैं, पुद्गल का एक भेद हैं।[38] पुद्गल जड़ हैं, चैतन्य नहीं। इसलिये वह किसी को पवित्र नहीं बनाएगा। परन्तु शब्द के पीछे रहा हुआ मन का भाव ही सबसे बड़ी शक्ति है। वाणी को मन का प्रतीक कहा जा सकता है। अतएव 'मिच्छा मि दुक्कडं' महावाक्य के पीछे जो आन्तरिक पश्चात्ताप का भव्य-भाव रहा हुआ होता है, उसी में शक्ति निहित है और वह बहुत बड़ी अचिन्त्य शक्ति है। पश्चात्ताप का परम दिव्य निर्झर आत्मा पर लगे हुए पाप-मल को बहाकर साफ कर देता है। यदि साधक सच्चे मन से पापाचार के प्रति घृणा व्यक्त करे, पश्चात्ताप करे, तो वह पाप-कालिमा को सहज ही धोकर साफ कर सकता है। अपराध के लिये दिया जाने वाला तपश्चरण या अन्य किसी तरह का दण्ड भी तो मूल में पश्चात्ताप ही है। यदि मन में पश्चात्ताप न हो और कठोर से कठोर प्रायश्चित्त ग्रहण कर भी लिया जाय तो क्या आत्मशुद्धि हो सकती है? कदापि नहीं। दण्ड का उद्देश्य देह-दण्ड नहीं है। अपितु मन का दण्ड है और मन का दण्ड क्या है? अपनी भूल स्वीकार कर लेना, पश्चात्ताप कर लेना। यही प्रमुख कारण है कि साधना के क्षेत्र में पाप के लिये प्रायश्चित्त का विधान है, दण्ड का नहीं। दण्ड प्रायः बाहर अटक कर रह जाता है, अन्तरंग में प्रवेश नहीं कर पाता है। पश्चात्ताप का झरना नहीं बहाता है। प्रायश्चित्त साधक की स्वयं अपनी तैयारी है। वह अन्तर्हृदय में अपने पाप का शोधन करने के लिये उत्साहित है। अतएव वह अपराधी को पश्चात्ताप के द्वारा विनीत बनाता है, सरल एवं निष्कपट बनाता है। 'मिच्छा मि दुक्कडं' भी एक प्रायश्चित्त है। इसके मूल में पश्चात्ताप की भावना है और हृदय की पवित्रता है।

ऊपर के लेखन में बार-बार सच्चे मन और पश्चात्ताप की भावना का उल्लेख किया गया है। उसका कारण यह है कि अज्ञानी व्यक्ति की साधना के लिये तैयारी तो होती नहीं है। प्रतिक्रमण का मूलभूत अभिप्राय समझा तो जाता नहीं है। वह प्रतिक्रमण तो अवश्य करता है। 'मिच्छा मि दुक्कडं' भी देता है, परन्तु फिर उसी पाप को करता रहता है। उससे निवृत्त नहीं होता है। पाप करना और 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना, फिर पाप करना और 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना, यह जीवन के अन्त तक चलता रहता है। परन्तु इससे आत्मशुद्धि के महामार्ग पर सामान्यतः प्रगति नहीं हो पाती है।

इस प्रकार की बाह्य साधना को 'द्रव्य-साधना' कहा जाता है। केवल वाणी से 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहना और फिर उस पाप को करते रहना, उचित नहीं है। मन के मैल को साफ किए बिना और पुनः उस पाप को नहीं करने का दृढ़ निश्चय किए बिना खाली ऊपर से 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहने का कुछ अर्थ नहीं है। एक ओर दूसरों का दिल दुःखाने का काम करते रहें, हिंसा करते रहें, झूठ बोलते रहें और दूसरी ओर 'मिच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मि दुक्कड़' देते रहें। इस प्रकार का यह 'मिच्छा मि दुक्कड़' आत्मा का शुद्ध नहीं अधिक अशुद्ध बना देता है। इस संबंध में स्पष्ट उल्लेख है कि पापकर्म करने के बाद जब प्रतिक्रमण अवश्य करणीय है, तब सरल मार्ग तो यह है कि पाप कर्म किया ही न जाय। आध्यात्मिक दृष्टि से वस्तुतः यही सच्चा प्रतिक्रमण है।[३९] जो साधक त्रिविध योग से प्रतिक्रमण करता है, जिस पाप के लिये 'मिच्छामि दुक्कड़' देता है। फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है, वस्तुतः उसी का दुष्कृत्य निष्फल होता है।[४०] साधक एक बार मिच्छामि दुक्कड़ं देकर भी यदि फिर उस पापाचरण का सेवन करता है तो वह प्रत्यक्षतः झूठ बोलता है। दम्भ का जाल बुनता है।[४१] इस प्रकार के साधक के लिये बड़ी कठोर भाषा में भर्त्सना की गई है।[४२] जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि भविष्य में वैसा नहीं करता है, तो उससे बढ़कर मिथ्यादृष्टि और कौन होगा? वह दूसरे भद्र-व्यक्तियों के मन में शंका पैदा करता है और इस रूप में मिथ्यात्व की वृद्धि करता है। उक्त कथन वास्तव में सर्वथारूपेण यथार्थ है।

इसी विवेचना के परिपार्श्व में यह ज्ञातव्य तथ्य है कि 'मिच्छा मि दुक्कड़' के एक-एक अक्षर पर कितना भावपूर्ण वर्णन है। यदि साधक मिच्छा मि दुक्कड़ं कहता हुआ उस पर गहराई से विचार कर ले तो फिर पापाचरण करने के लिये तत्पर न होगा। 'मिच्छा मि दुक्कड़' में 'मि' का अर्थ है- मृदुता या मार्दव। काय-नम्रता को मृदुता कहते हैं और भाव-नम्रता को मार्दव कहा जाता है। 'छ' का अर्थ असंयम योग रूप दोषों का छादन करना है, उन्हें रोक देना है। 'मि' का अर्थ मर्यादा भी है, अर्थात् मैं चारित्र रूप मर्यादा में अवस्थित हूँ। 'दु' का आशय है 'निन्दा'। मैं दुष्कृत करने वाले भूतपूर्व आत्म पर्याय की निन्दा करता हूँ। 'क' का भाव पापकर्म की स्वीकृति है। अर्थात् मैंने पाप किया है। पाप अशुभ कर्म है।[४३] 'ड' का अर्थ उपशम भाव है। आत्म में कारणवश कर्म की शक्ति का अनुद्भूत होना, सत्ता में रहते हुए भी उदय प्राप्त न होना इसका नाम 'उपशमभाव' है।[४४] उपशम भाव के द्वारा पापकर्म का प्रतिक्रमण करना है, पाप-क्षेत्र को लांघ जाना है। यह अतीव संक्षेप में 'मिच्छा मि दुक्कड़' का स्पष्ट रूपेण अक्षरार्थ है।

वास्तविकता यह है कि प्रतिक्रमण एक अन्तर्मुखी साधना है। यदि प्रमाद की स्थितिवश हमारी आत्मा संयम-क्षेत्र से असंयम क्षेत्र में चली गयी हो, तो उसे पुनः संयम क्षेत्र में लौटा लाना, यही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण की साधना प्रमाद भाव को दूर करने के लिये है। साधक के जीवन में प्रमाद ही वह विष है, जो अन्दर ही अन्दर साधना को विनष्ट कर डालता है। अतएव श्रमण और श्रावक इन दोनों का परम कर्तव्य है कि प्रमाद से बचें और प्रतिक्रमण के द्वारा अपनी साधना को अप्रमत्त स्थिति प्रदान करें।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा सकता है कि प्रतिक्रमण एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। संयम-जीवन को विशेष रूपेण परिष्कृत करने के लिये, शुद्धतम करने के लिये, आत्मा को राग-द्वेष से रहित करने के लिये, पापकर्मों के निर्घात के लिये 'प्रतिक्रमण' किया जाता है और इस अध्यात्म-प्रधान साधना में निरत साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी आत्मा में एक अप्रमत्त भाव की दिव्य ज्योति को प्रकाशमान कर देता है, जिससे उसका अज्ञान एवं अविवेक विनष्ट होता है। वास्तव में प्रतिक्रमण, अन्तर्मुखी-साधना है, जो भविष्य में आने वाले पापकर्मों को रोककर अन्दर में पूर्वबद्ध कर्मों से लड़ने की कला है। यह आध्यात्मिक युद्धकला ही वस्तुतः मुक्ति के साम्राज्य पर अधिकार करा सकती है।

संदर्भ

१. (क) अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र २८, गाथा २
   (ख) विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८७६
   (ग) अनुयोगद्वार सूत्र वृत्ति २८, पृष्ठ ३१, मलधारकगच्छीय हेमचन्द्र
२. (क) अनुयोगद्वार चूर्णि, पृष्ठ १४
   (ख) अनुयोगद्वार वृत्ति, पृष्ठ ३
   (ग) आवश्यकसूत्र हरिभद्रीय वृत्ति, २१
   (घ) मूलाचार, ७-१४
३. (क) आवश्यक निर्युक्ति, १२३३
   (ख) हरिभद्रीयावश्यक सूत्र, अध्ययन ४, निर्युक्ति गाथा १२४२
४. (क) स्थानांग सूत्र, स्थान-१०-१६
   (ख) समवायांग सूत्र, समवाय १०
   (ग) नवतत्त्व, गाथा २३
५. दशवैकालिक सूत्र अध्ययन १, गाथा १
६. (क) उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २
   (ख) समवायांग सूत्र, समवाय २२
   (ग) तत्त्वार्थ सूत्र , ९.८
७. (क) सर्वार्थसिद्धि, ६.२५
   (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ६.२५.१
   (ग) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ६.२५
८. (क) आवश्यकनिर्युक्ति-१०५०
   (ख) दशवैकालिकसूत्र वृत्ति-हरिभद्रसूरि, ४.२
   (ग) स्थानांगसूत्र वृत्ति-अभयदेवसूरि, ३, ३, १६८
   (घ) कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, ३२६
   (ङ) पंचाध्यायी-२.४७४
९. (क) स्थानांगसूत्र, ५.३.४६७
   (ख) हरिभद्रीयावश्यक सूत्र, प्रतिक्रमणाध्ययन, पृष्ठ ५६४
१०. समयसार, ९२

Jain Education International | For Private & Personal Use Only | www.jainelibrary.org

११. (क) सर्वार्थसिद्धि-६.२

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकाचार्य वृत्ति, २.५.१७, पृष्ठ १२८

(ग) अध्यात्मसार, १८.१३१

(घ) तत्त्वार्थ सूत्र , ६.१-२

(ङ) श्रावक प्रज्ञप्ति, ७९

(च) तत्त्वार्थ सार ४-२

(छ) चन्द्रप्रभ चरित्र-आचार्य वीरनन्दी, १८.८२

(ज) अमितगति श्रावकाचार, ३.३८

(झ) ज्ञानार्णव, १, पृष्ठ ४२

(ञ) धर्मशर्माभ्युदय-कवि हरिचन्द्र, २१.८४

(ट) मूलाचारवृत्ति-वसुनन्द्याचार्य, ५-६

(ठ) आराधना सार टीका- श्री रत्नकीर्तिदेव,४

(ड) आवश्यक सूत्र हरिभद्रीया वृत्ति, पृष्ठ ८४

१२. (क) प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा १३

(ख) स्थानांग सूत्र २.४.१.५ टीका

(ग) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड २१

१३. पंचाध्यायी- २.९८-६-७

१४. (क) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, ३९

(ख) स्थानांग सूत्र २.४.१०५ टीका

१५.तत्त्वार्थ भाष्य ८.१

१६. (क) आवश्यकचूर्णि ६.१६५८

(ख) प्राकृत पंच संग्रह-१.७

१७. (क) गुणस्थान क्रमारोहण स्वोपज्ञ वृत्ति, गाथा ६

(ख) कर्मग्रन्थ, भाग-४, गाथा ५१

(ग) लोक प्रकाश सर्ग-३, गाथा ६८९

१८. (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पृष्ठ ११६

(ख) विशेषावश्यक भाष्य १२२७

(ग) आवश्यक सूत्र हरिभद्रीय वृत्ति, १०९, पृष्ठ ७७

(घ) पंच संग्रह स्वोपज्ञ वृत्ति, ३-१२३, पृष्ठ ३५

(ङ) उत्तराध्ययन सूत्र निर्युक्ति-वृत्ति-शान्तिचन्द्रसूरि, १८०

(च) स्थानांग सूत्र, अभयदेव वृत्ति- ४, १

१९. (क) दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) तत्त्वार्थ वृत्ति-श्रुतसागर, ८-२

२०. (क) सूत्रकृतांग सूत्र ६.२६

(ख) स्थानांग सूत्र ४.१.२५१

(ग) प्रज्ञापना सूत्र २३.१.२९०

२१. उत्तराध्ययन सूत्र ३२.७

२२. (क) स्थानांग सूत्र २.३

(ख) प्रज्ञापना सूत्र २३

(ग) प्रवचनसार गाथा ९५

२३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र ३२.७

(ख) स्थानांग सूत्र २.२

(ग) प्रवचन सार १.८४.८८

(घ) समयसार गाथा ९४, ९६, १०९, १७७

२४. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५०

२५. (क) स्थानांग सूत्र ४१८

(ख) समवायांग सूत्र-समवाय ५

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र ८.१

२६. आवश्यकनिर्युक्ति-आचार्य भद्रबाहु गाथा, १२६८

२७. (क) नियमसार, १०२

(ख) तत्त्वसार १७

(ग) ज्ञानसार वृत्ति, १३-३, पृष्ठ ४३

२८. प्रशमरति प्रकरण १४३

२९. तत्त्वार्थ सूत्र वृत्ति-श्रुतसागर सूरि, ३-२७

३०. (क) आवश्यक निर्युक्ति वृत्ति-आचार्य मलयगिरि, १२१

(ख) निशीथ भाष्य-आचार्य मलयगिरि, भाग-४, गाथा ५९३३

(ग) बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ६३-६४

(घ) भगवती आराधना गाथा, ४२७

(ङ) कल्पसूत्र कल्पलता गाथा १, पृष्ठ २

३१. (क) उत्तराध्ययन सूत्र ३०.९

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९.२०

(ग) मूलाचार, गाथा ३६०

(घ) भगवती सूत्र २५.७

३२. धर्मसंग्रह, अधिकार ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३. राजवार्तिक ९.२२.१

३४. पंचाशक-सटीक विवरण १६.३

३५. मूलाचार, ३६१ व ३६३

३६. (क) औपपातिक सूत्र, सूत्र २०

(ख) भगवती सूत्र २५.७.१२५

(ग) स्थानांग सूत्र १०.७२

(घ) मूलाचार ३६२

(ङ) चारित्रसार १३७

(च) धवला-१३.५,४,२६

३७. राजवार्तिक ९.२२.३

३८. द्रव्यसंग्रह-आचार्य नेमिचन्द्र, गाथा १६

३९. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६८३

४०. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६८४

४१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६८५

४२. उपदेशमाला, ५०६

४३. (क) प्रशमरति प्रकरण-२१९

(ख) पंचास्तिकाय-अमृतचन्द्राचार्य वृत्ति, १०८

(ग) आप्तमीमांसा-आचार्य वसुनन्दी पदवृत्ति, ४०

(घ) समवायांग सूत्र, अभयदेवसूरि वृत्ति, १, पृष्ठ ६

४४. सर्वार्थसिद्धि, २.१

-तारक गुरु ग्रन्थालय, शास्त्री सर्किल, उदयपुर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org